

विवेक की कमी से ग्रस्त इस देश के अकल से मंद डिग्रीधारियों को राजीव भार्गव की किताब पढ़नी चाहिए

प्रोफेसर भार्गव ने द हिन्दू के लिए कुछ छोटे लेख लिखे हैं. इस पुस्तक में ऐसे ही लेखों का संकलन है. आज हम भारत में जिन नैतिक समस्याओं का रोज सामना करते हैं वैसी बहुत सी समस्याओं पर पुस्तक में संकलित लेखों में विचार किया गया है.

-योगेन्द्र यादव

पढ़े लिखे, डिग्रीधारी हिन्दुस्तानियों को मिलने पर अक्सर मेरे दिल में एक खयाल आता है. सोचता हूँ की “अकल के अंधे और गाँठ के पूरे” वाले मुहावरे को बदल कर “अकल के अंधे और ज्ञान के पूरे” कर दिया जाय. या फिर “अकलमंद और अकल से मंद” जैसा कोई मुहावरा गढ़ा जाय. आप ही बताइये उस इन्वेस्टमेंट कंसल्टेंट को क्या नाम दें जो शेयर बाजार के उतार-चढ़ाव की बारीक व्याख्या करता है लेकिन महिलाओं के बारे में वही वही पुरानी सड़ी-गली अकखड़ बातें करता है.

या फिर, उस ब्रिलिएंट सॉफ्टवेयर इंजीनियर के बारे में सोच सकते हैं जो पश्चिमी और गोरे लोगों के प्रभुत्व के महीन रेशे को भी पकड़ लेता है लेकिन जाति-व्यवस्था के बारे में मासूमियत से पूछता है कि वह अब कहाँ बची है.

आपकी भेंट ऐसे डॉक्टर से भी हुई होगी जो यों तो किसी ऐरे-गैरे पैथ-लैब की रिपोर्ट पर यकीन नहीं करता लेकिन इस बात पर यकीन करने के लिए झटपट तैयार मिलता है कि जल्दी ही भारत में मुसलमानों की आबादी हिंदुओं से ज्यादा होने वाली है. तकनीक की दुनिया के ज्ञानी लेकिन अपने सामाजिक सोच में कतई मूर्ख – यह हमारे आज के पढ़े लिखे भारतीयों की एक खास पहचान है.

यह सिर्फ भारत की बात नहीं. आप कह सकते हैं कि यह तो हमारे वक्त का ही लक्षण है. बेशक बात ठीक लगती है लेकिन पूरी तरह सच नहीं है.

भारत और विदेश में एक फर्क है

भारत और भारत के बाहर के उच्च शिक्षा संस्थानों के बीच मुझे इस मामले में अंतर जान पड़ता है। मिसाल के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में, समाज में आपको बड़े पैमाने पर अज्ञानता, कट्टरता और नस्लवाद का चलन मिल जायेगा लेकिन जैसे ही आप किसी नामी-गिरामी विश्वविद्यालय के परिसर में कदम रखते हैं, आपका वहां ऐसी चीजों से सामना नहीं होता। कम से कम प्रत्यक्ष बातचीत में तो ये चीजें देखने को नहीं ही मिलती। वहां स्त्रियों के प्रति विद्वेष-भावना, गोरे लोगों की प्रभुताई या फिर इस्लाम-भीति (इस्लामोफोबिया) से किसी किस्म का जुड़ाव बड़े शर्म का विषय माना जाता है।

हमारे देश में उलटी स्थिति है। यहां समाज में बड़े पैमाने पर जातिगत और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों का पसारा है। शायद लेकिन उतना भी नहीं जितना कि अमेरिका के गोरे अधिपत्य वाले मिडवेस्ट इलाके की सड़कों मिलता है।

लेकिन हमारे नामी-गिरामी उच्च शिक्षा-संस्थान जैसे- आईआईटी, मेडिकल कॉलेज तथा मैनेजमेंट और इंजीनियरिंग सिखाने वाले हजारों संस्थान ऐसे पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो पाये हैं। इन संस्थानों में आपको उलट स्थिति देखने को मिलेगी। यहां आपको बौद्धिकता के अहंकार और सामाजिक अज्ञानता का एक ऐसा घातक मेल देखने को मिलेगा, जो हद दर्जे की धर्मांधता, ठोस पूर्वाग्रह और स्वार्थ्य की संस्कृति को जन्म देता है। यही परिवेश अक्ल के अंधे और ज्ञान के पूरे नागरिक पैदा करता है।

समाज-विज्ञान और मानविकी पढ़ाने-सिखाने वाले उच्च शिक्षा संस्थानों में एक अलग ही समस्या देखने को मिलती है। ऐसे संस्थानों में छात्र सामाजिक रूप से अनपढ़ नहीं होते, वे अपने पूर्वाग्रहों का प्रदर्शन नहीं करते फिरते। ये छात्र राजनीतिक शिष्टता का तकाजा समझते हैं।

लेकिन यह नहीं समझते कि उनकी बातों के ठीक-ठीक क्या निहितार्थ होते हैं। चार दशक पहले जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी (जेएनयू) में पढ़ते हुए मुझे ऐसा ही प्रतीत हुआ था और आज यही बात मैं बहुत से प्रगतिशील संस्थानों में होते देखता हूँ।

विचारधारा के धरातल पर सामूहिक रूप से वामपंथ की तरफ मुड़ जाना बहुत कुछ वैसा ही है जैसे सामूहिक रूप से धर्मांतरण करना। यहां भी आपको वही झुंड-वृत्ति, वही भक्ति, और खुद सोचने के बोझ से वैसी ही छुट्टी ले लेने की प्रवृत्ति दिखेगी।

हमें सार्वजनिक विवेक की संस्कृति चाहिए

हमारी शिक्षा-व्यवस्था के भीतर प्रश्न पूछने की संस्कृति का अभाव है. हमारे सार्वजनिक जीवन में तो खैर, इसका नितांत अभाव है ही. बात चाहे क्लास रूम की हो या फिर किसी राजनीतिक संगठन की- हर जगह प्रश्नाकुलता का नहीं बल्कि आज्ञाकारिता की संस्कृति का चलन है.

हमें अपने सुविधाजनक दायरे में रहना, अपने जैसे सोच-विचार और सामाजिक पृष्ठभूमि वाले लोगों के साथ उठना-बैठना अच्छा लगता है. यहां हमारी सोच को चुनौती देने वाला कोई नहीं होता. अगर कभी किसी ऐसे व्यक्ति से भेंट हो गई जो हमारी सोच को चुनौती देता लगे तो हम उससे निपटने के लिए गाली गलौज का सहारा लेते हैं या कन्नी काट लेते हैं. इसी कारण हमारे देश में टीवी पर होने वाली बहसों में तू-तू मैं-मैं और नॉक-झॉक तो खूब देखने को मिलती है. हमारे सार्वजनिक जीवन में तर्क है, वितर्क है, कुतर्क है लेकिन विवेक नहीं है. युक्तिसंगत सोच-विचार नहीं है. हमारे सार्वजनिक जीवन की यही बीमारी आज के वक्त में अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को शह दे रही है.

सार्वजनिक विवेक (पब्लिक रीज़न) हमारे सामूहिक जीवन की सबसे बड़ी जरूरत है. हमें एक ऐसी संस्कृति की जरूरत है जिसमें अच्छाई-बुराई के बारे में खुले में, पारदर्शी ढंग से चर्चा हो, जहां मुश्किल से मुश्किल और बुनियादी किस्म के सवाल पूछे जायें और सीधे-स्पष्ट उत्तरों की मांग की जाये. एक ऐसी संस्कृति जहां तथ्यों को परखा जाता हो और जहां तर्क किसी बाहरी सहारे की टेक नहीं बल्कि अपने पैरों पर खड़े होते हों.

शुरुआत इस किताब से कीजिये

अगर आप पूछें कि सार्वजनिक विवेक की ऐसी संस्कृति के निर्माण की शुरुआत कहां से करें तो अब मेरे पास आपके लिए एक जवाब है. कम से कम एक किताब तो है.

राजीव भार्गव की नई किताब का नाम है 'बिट्वीन होप एंड डेस्पेयर: 100 ईथिकल रिफ्लेक्शन ऑन कंटेम्पररी इंडिया'. यह ऐसी किताब है जिसे आप नई पीढ़ी के ऐसे भारतीय को देना चाहेंगे जिसमें आपको उम्मीद दिखाई दे.

दशकों से मेरी ख्वाहिश थी कि राजीव भार्गव ऐसी ही कोई किताब लिखें. राजीव भार्गव जाने-माने राजनीति दार्शनिक हैं. उन्होंने जेएनयू और दिल्ली विश्वविद्यालय में छात्रों की कई पीढ़ियों को शिक्षा दी है. मैं भी ऐसे ही छात्रों में शामिल हूं. उन्होंने हमें पढ़ाया कि विवेक संगत तर्क-वितर्क कैसे किया जाय, खुले दिमाग से कैसे सोचें, जिस विचार से हम असहमत हैं उसके प्रति ईमानदारी कैसे बरतें और अपने तर्कों को कैसे सुसंगत रूप में कैसे रखें. उन्होंने हमें अपने

वैचारिक विरोधी पछाड़ने की कला नहीं सिखाई बल्कि विरोधी की बात में भी सच खोजने की राह दिखायी. टीवी पर चलने वाली बहसों को लेकर जब भी कोई मुझसे सराहना के दो बोल कहता है तो मैं अपने पिता को याद करता हूँ जिन्होंने मुझे तर्क में ईमानदारी सिखायी और राजीव भार्गव को याद करता हूँ जिनसे मैंने सार्वजनिक विवेक का पाठ पढ़ा.

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित उनकी अकादमिक पुस्तकों से कहीं ज्यादा इंतजार मैंने उनकी इस पुस्तक का किया है क्योंकि जो उनकी कक्षा में नहीं बैठे वे इस पुस्तक के सहारे सार्वजनिक विवेक की कला को सीख सकेंगे. वे ऐसे शिक्षक हैं जिनकी भारत को इस नाजुक वक्त में सख्त जरूरत है.

प्रोफेसर भार्गव ने द हिन्दू के लिए कुछ छोटे लेख लिखे हैं. इस पुस्तक में ऐसे ही लेखों का संकलन है. आज हम भारत में जिन नैतिक सवालोंका रोज सामना करते उन पर पुस्तक में संकलित लेखों में विचार किया गया है. जैसे: हमें एक संविधान की जरूरत क्यों है? लोकतंत्र हमारे लिए क्यों मूल्यवान है? राष्ट्रीय गौरव से हमारा क्या और कैसा नाता हो? क्या अल्पसंख्यकों के अधिकार जैसी अवधारणा को अच्छा माना जा सकता है? सेक्युलरिज्म से हमारा क्या आशय है? माफ करने और बुरी बातों को भुला देने के क्या मायने हैं? क्या इस सत्याभासी (पोस्ट-ट्रूथ) समय में तथ्य सचमुच मायने रखते हैं?

प्रोफेसर भार्गव ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये हैं या उनके लेखों में जो बातें कही गई हैं उनका यहां सार-संक्षेप पेश करके मैं उनकी किताब को पढ़ने का आपका जायका खराब नहीं करना चाहता. यहां बस इतना भर कह देना पर्याप्त होगा कि प्रोफेसर भार्गव के उत्तर किसी एक विचारधाराई बनावट या 'वाद' के सांचे में फिट नहीं बैठायें जा सकते. अगर कोई विचारधारा पुस्तक में शुरू से आखिर के पन्ने तक मौजूद है तो उसके बारे में यही कहना ठीक होगा कि वह भारतीय संविधान की विचारधारा है- भारत नाम के विचार को पुष्ट करती विचारधारा है. मैं तो यह तक कहूंगा कि भारत के संविधान निर्माताओं ने उस आपाधापी और गर्मागर्मी के वक्त में भारतीय संविधान का जो औचित्य-निरूपण किया था उनसे कहीं बेहतर, गहरे और महीन तर्क प्रोफेसर भार्गव ने दिये हैं, भारतीय संविधान के दर्शन की रक्षा में.

उन्होंने हमें सच के अनुसंधान में लगने की सच्ची राह दिखायी. टीवी पर चलने वाली बहसों को लेकर जब भी कोई मुझसे सराहना के दो बोल कहता है तो मैं अपने पिता को याद करता हूँ जिन्होंने मुझे निष्पक्षता सिखायी और राजीव भार्गव को याद करता हूँ जिनसे मैंने इसका पाठ पढ़ा.

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित उनकी अकादमिक पुस्तकों से कहीं ज्यादा इंतजार मैंने उनकी इस पुस्तक का किया है क्योंकि जो उनकी कक्षा में नहीं बैठे वे इस पुस्तक के सहारे सार्वजनिक प्रश्नबुद्धि की उनकी आलोचनात्मक कला को सीख सकेंगे. वे ऐसे शिक्षक हैं जिनकी भारत को इस नाजुक वक्त में सख्त जरूरत है.

प्रोफेसर भार्गव ने द हिन्दू के लिए कुछ छोटे लेख लिखे हैं. इस पुस्तक में ऐसे ही लेखों का संकलन है. आज हम भारत में जिन नैतिक समस्याओं का रोज सामना करते हैं वैसी बहुत सी समस्याओं पर पुस्तक में संकलित लेखों में विचार किया गया है. जैसे: हमें एक संविधान की जरूरत क्यों है? लोकतंत्र हमारे लिए क्यों मूल्यवान है? राष्ट्रीय गौरव से हमारा क्या और कैसा नाता हो? क्या अल्पसंख्यकों के अधिकार जैसी अवधारणा को अच्छा माना जा सकता है? सेक्युलरिज्म से हमारा क्या आशय है? माफ करने और बुरी बातों को भुला देने के क्या मायने हैं? क्या इस सत्याभासी (पोस्ट-ट्रूथ) समय में तथ्य सचमुच मायने रखते हैं?

प्रोफेसर भार्गव ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये हैं या उनके लेखों में जो बातें कही गई हैं उनका यहां सार-संक्षेप पेश करके मैं उनकी किताब को पढ़ने का आपका मजा खराब नहीं करना चाहता. यहां बस इतना भर कह देना पर्याप्त होगा कि प्रोफेसर भार्गव के उत्तर किसी एक विचारधाराई बनावट या 'वाद' के सांचे में फिट नहीं बैठायें जा सकते.

अगर कोई विचारधारा पुस्तक में शुरू से आखिर के पन्ने तक मौजूद है तो उसके बारे में यही कहना ठीक होगा कि वह भारतीय संविधान की विचारधारा है- भारत नाम के विचार को पुष्ट करती विचारधारा है. मैं तो यह तक कहने का जोखिम उठाने को तैयार हूँ कि भारत के संविधान निर्माताओं ने उस आपाधापी और गर्मागर्मी के वक्त में भारतीय संविधान का जो औचित्य-निरूपण किया था उनसे कहीं बेहतर, गहरे और महीन तर्क प्रोफेसर भार्गव ने दिये हैं, संविधान-वर्णित दर्शन की रक्षा में.

हमारे समय में दर्शनशास्त्र का इश्तेहार है यह

राजनीतिक दर्शन के विद्यार्थी देख पायेंगे कि पुस्तक के लेखों में विवेचित प्रश्नों में किस तरह अकादमिक बहसों की एक अंतर्धारा बह रही है. ऐसी कुछ अकादमिक बहसों में स्वयं प्रोफेसर भार्गव ने अपने अकादमिक अवतार में योगदान किया है. पुस्तक के पाठक देख पायेंगे कि उनके सामने एक ऐसे लेखक की रचना है जो विश्लेषणात्मक दर्शनशास्त्र (एनालिटिकल फिलॉस्फी) की परंपरा में सिद्धहस्त है. लेखों में कभी कभार चार्ल्स टेलर और अलाडेयर मैकिन्टायर का जिक्र लेखक के रूझान का इशारा करता है लेकिन इन लेखों की खूबी यही है कि प्रोफेसर भार्गव हमारे समय के बड़े और कठिन प्रश्नों का उत्तर बगैर कोई अकादमिक शब्दजाल बांधे कर पाये हैं.

वे अपने पाठक से यह अपेक्षा नहीं रखते कि उसने राजनीतिक दर्शन की गहन-गड़िन किताबें पढ़ रखी होंगी. न ही वे पाठक को किसी बनी बनाई राजनीतिक विचारधारा की ओर ढकेलते हैं. उनकी पुस्तक अपने पाठक को आमंत्रण देती है कि वे उन बुनियादी प्रश्नों को पूछें जिसे ना जाने वे कब से पूछना चाहते थे.

यह किताब सरल लेकिन ताकतवर और टिकाऊ भेद-विभेद के सहारे अपने पाठक को इन प्रश्नों के उत्तर सोचने में मदद करती है, एक नयी दृष्टि देती है यह किताब अपने सबसे बेहतरीन अर्थों में गहरी नैतिक तर्कबुद्धि की प्रस्तुति है. इसे हमारे समय में दर्शन शास्त्र के एक इशतहार के रूप में भी पढ़ और देख सकते हैं.

मैं नौजवानों से हमेशा कहता हूँ कि आप अमर्त्य सेन और जॉन रॉल्स के लिखे को पढ़िए, भले ही आपकी रूचि इन लेखकों की विषय-वस्तु में ना हो या इन लेखकों से आपकी सहमति ना बनती हो. इन्हे तर्कबुद्धि और युक्तिसंगत सोच के नमूने के तौर पर पढ़िए. राजीव भार्गव की किताब भी ऐसी ही किताबों में शुमार है.

इस किताब को आप अपने तेज तर्रार युवा दोस्त या भतीजे को गिफ्ट करके देखिये. हो सकता है वो किताब में दिये गये उत्तरों से अपने को सहमत होता पाये. अगर ऐसा होता है, तो समझिए कि इस अंधेरे समय में हमने अपनी गणतंत्र की रक्षा में एक और रंगरूट खड़ा किया.

अगर वह किताब के उत्तरों से सहमत नहीं होता तो और भी अच्छा, क्योंकि तब यह माना जायेगा कि यह किताब आलोचनात्मक बुद्धि से भरे एक चिंतनशील नागरिक को गढ़ने में कामयाब रही, अक्ल से मंद को अक्लमंद बनाने में सफल हुई.